

# मुस्लिम मानसः बात निकली है तो दूर तलक जाएगी

संवाद के अवसर हों, तो बातें निकलती हैं और दूर तलक जाती हैं। मुस्लिम समाज की बात हो तो हम काफी संकोच और पूर्वग्रहों से घिर ही जाते हैं। हैदराबाद स्थित मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी में पिछली 17 और 18 मार्च को 'मुस्लिम, मीडिया और लोकतंत्र' विषय पर हुए सेमिनार के लिए हमें इस संस्था का आभारी होना चाहिए कि उसने इस बहाने न सिर्फ सोचने के लिए नए विषय दिए बल्कि यह अहसास भी कराया कि भारत-पाकिस्तान की सामूहिक इच्छाएं शांति से जीने और साथ रहने की हैं।

भारत और पाकिस्तान के लगभग तीस महत्वपूर्ण पत्रकारों, 20 से अधिक मीडिया अध्यापकों की मौजूदगी ने इस सेमिनार को जहां सफल बनाया। वहीं लार्ड मेघनाद देसाई, एन.राम, वैदप्रताप वैदिक, नजम सेठी, शेखर गुप्ता, राजदीप सरदेसाई, स्वपनदास गुप्ता, सीमा मुस्तफा, जफर आगा, विनोद शर्मा, शाहिद सिद्दीकी, सतीश जैकब, सैय्यद फैसल अली, कमाल खान, अंजुम राजाबली, हिलाल अहमद, शेषाद्रि चारी, किशुक नाग, कुमार केतकर, जावेद नकवी, अकू श्रीवास्तव, मासूम मुरादाबादी, तहसीन मुनव्वर, अबदुस्स सलाम असिम जैसे पत्रकारों- बुद्धिजीवियों की मौजूदगी ने इस आयोजन में विमर्श के नए सूत्र दिए। पाकिस्तान से आए तीन पत्रकारों नजम सेठी, महमल सरफराज और इम्तियाज आलम के भाषणों से साफ पता चलता है कि पाकिस्तान में आतंकवाद के खिलाफ आम लोगों में खासा आक्रोश है और वे इस खूनी खेल से तंग से हैं। भारत के लोगों के संदेश देते हुए इनका साफ कहना था कि वे चाहें तो पाकिस्तान जैसे हो जाएं पर इससे उनकी जिंदगी नरक हो जाएगी। इन पत्रकारों का मानना था कि पिछले छः दशक तक वे जिस रास्ते पर चले हैं वह गलत है और मजहब और राजनीति के घालमेल से हालात बदतर ही हुए हैं।

उर्दू और पापुलर कल्चरः

हिंदुस्तानी मुसलमानों की मीडिया में उपस्थिति और उनकी प्रक्षेपित की जा रही छवि भी चर्चा के केंद्र में रही। वैश्विक मीडिया में मुसलमानों को लेकर जो कुछ बताया और छपाया जा रहा है उस पर काफी बातें हुयीं। आमतौर पर रूझान यही रहा कि जो कहा और बताया जा रहा है उसमें पूरा सच नहीं है। राजदीप सरदेसाई और कमाल खान के संयुक्त संचालन में हुए मीडिया कान्क्लेव में यह बातें उभरकर सामने आई कि मुसलमानों को इन सवालों पर सोचने और आत्ममंथन करने की जरूरत है। यदि वे अपने अंदर झांककर खुद को नहीं बदलते हैं तो यह छवि तोड़नी मुश्किल है। मुस्लिम मानस की चिंताओं के साथ वरिष्ठ पत्रकार शेखर गुप्ता ने उर्दू की भी बात छोड़ी। उनका कहना था कि हिंदुस्तान में पापुलर कल्चर को उर्दू ने ही जिंदा रखा है। उन्होंने कहा वैश्विक आतंकवाद का चेहरा फिल्मों में भी दिख रहा है, इससे मुस्लिम समाज को जोड़कर देखने की जरूरत नहीं है। उन्होंने कहा भारत की परिस्थितियां अलग हैं। यहां लोकतंत्र है और लोग अपने हकों के लिए आगे आ सकते हैं। अरब देशों से आतंकवादी अधिक इसलिए निकलते हैं क्योंकि वहां पर विरोध करने के अवसर नहीं हैं। इसलिए विरोध आतंकवाद की शक्ति में ही सामने आता है। उनका मानना था कि इस्लामोफोबिया से भारतीय मीडिया

को बचाने की जरूरत है। मीडिया और मीडिया शिक्षण से जुड़े लोगों ने इस मौके पर भारतीय उपमहाद्वीप में उपस्थित चुनौतियों पर लंबी बातचीत की। उर्दू और उसकी समस्याओं पर भी चर्चा की।

अलग नहीं हैं मुसलमानों की चिंताएं:

मुस्लिम राजनीति के संकट वस्तुतः भारतीय राजनीति और समाज के ही संकट हैं। उनकी चुनौतियां कम या ज्यादा गंभीर हो सकती हैं, पर वे शेष भारतीय समाज के संकटों से जरा भी अलग नहीं हैं। सही अर्थों में पूरी भारतीय राजनीति का चरित्र ही कमोबेश भावनात्मक एवं तात्कालिक महत्व के मुद्दों के इर्द-गिर्द नचाता रहा है। आम जनता का दर्द, उनकी आकांक्षाएं और बेहतरी कभी भारतीय राजनीति के विमर्श के केंद्र में नहीं रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राजनीति का यह सामूहिक चरित्र है, अतएव इसे हिंदू, मुस्लिम या दलित राजनीति के परिप्रेक्ष्य में देखने को कोई अर्थ नहीं है और शायद इसलिए 'जनता का एजेंडा' किसी की राजनीति का एजेंडा नहीं है। यह अकारण नहीं है कि मंडल और मंदिर के भावनात्मक सवाल पर आंदोलित हो उठने वाला हमारा राजनीतिक समाज बेरोजगारी के भयावह प्रश्न पर एक देशव्यापी आंदोलन चलाने की कल्पना भी नहीं कर सकता। इसलिए मुस्लिम नेताओं पर यह आरोप तो आसानी से लगाया जा सकता है कि उन्होंने कौम को आर्थिक-सामाजिक रूप से पिछड़ा बनाए रखा, लेकिन क्या यही बात अन्य वर्गों की राजनीति कर रहे लोगों तथा मुख्यधारा की राजनीति करने वालों पर लागू नहीं होती? बेरोजगारी, अशिक्षा, अंधविश्वास, गंदगी, पेयजल ये समूचे भारतीय समाज के संकट हैं और यह भी सही है कि हमारी राजनीति के ये मुद्दे नहीं हैं। जीवन के प्रश्नों की राजनीति से इतनी दूरी वस्तुतः एक लोकतांत्रिक के ये मुद्दे नहीं हैं। जीवन के प्रश्नों की राजनीति से इतनी दूरी वस्तुतः एक लोकतांत्रिक परिवेश में आश्चर्यजनक ही है। देश की मुस्लिम राजनीति का एजेंडा भी हमारी मुख्यधारा की राजनीति से ही परिचालित होता है। जाहिर है मूल प्रश्नों से भटकाव और भावनात्मक मुद्दों के इर्द-गिर्द समूची राजनीति का ताना बुना जाता है।

बंटवारे के भावनात्मक प्रभावों से मुक्त हो:

सही अर्थों में भारतीय मुसलमान अभी भी बंटवारे के भावनात्मक प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाए हैं। पड़ोसी देश की हरकतें बराबर उनमें भय और असुरक्षाबोध का भाव भरती रहती हैं। लेकिन आजादी के साढ़े छः दशक बीत जाने के बाद अब उनमें यह भरोसा जगने लगा है कि भारत में रुकने का उनका फैसला जायज था। इसके बावजूद भी कहीं अन्तर्मन में बंटवारे की भयावह त्रासदी के चित्र अंकित हैं। भारत में गैर मुस्लिमों के साथ उनके संबंधों की जो 'जिन्नावादी असहजता' है, उस पर उन्हें लगातार 'भारतवादी' होने का मुलम्मा चढ़ाए रखना होता है। दूसरी ओर पाकिस्तान और पाकिस्तानी मुसलमानों से अपने रिश्तों के प्रति लगातार असहजता प्रकट करनी पड़ती है। मुस्लिम राजनीति का यह वैचारिक द्वंद्व बहुत त्रासद है। आप देखें तो हिंदुस्तान के हर मुसलमान नेता को एक ढोंग रचना पड़ता है।

एक तरफ तो वह स्वयं को अपने समाज के बीच अपनी कौम और उसके प्रतीकों का रक्षक बताता है, वहीं दूसरी ओर उसे अपने राजनीतिक मंच (पार्टी) पर भारतीय राष्ट्र राज्य के साथ अपनी प्रतिबद्धता का स्वांग रचना पड़ता है। समूचे भारतीय समाज की स्वीकृति पाने के लिए सही अर्थों में मुस्लिम राजनीति को अभी एक लंबा दौर पार करना है। फिलवक्त की राजनीति में मुस्लिम राजनीति को अभी एक लंबा दौर पार करना है। आज की राजनीति में तो ऐसा संभव नहीं दिखता। भारतीय समाज में ही नहीं, हर समाज में सुधारवादी और परंपरावादियों का संघर्ष चलता रहा है। मुस्लिम समाज में भी ऐसी

बहसे चलती रही हैं। इस्लाम के भीतर एक ऐसा तबका पैदा हुआ, जिसे लगता था कि हिंदुत्व के चलते इस्लाम भ्रष्ट और अपवित्र होता जा रहा है। वहीं मीर तकी मीर, नजीर अकबरवादी, अब्दुरहीम खानखाना, रसखान की भी परंपरा देखने को मिलती है। हिंदुस्तान का आखिरी बादशाह बहादुरशाह जफर एक शायर था और उसे सारे भारतीय समाज में आदर प्राप्त था। एक तरफ औरंगजेब था तो दूसरी तरफ उसका बड़ा भाई दारा शिकोह भी था, जिसने 'उपनिषद्' का फारसी में अनुवाद किया। इसलिए यह सोचना कि आज कट्टरता बढ़ी है, संवाद के अवसर घटे हैं गलत है। आक्रामकता अकबर के समय में भी थी, आज भी है। यही बात हिंदुत्व के संदर्भ में भी उतनी ही सच है।

जरूरी है संवाद और सांस्कृतिक आवाजाही:

वीर सावरकर और गांधी दोनों की उपस्थिति के बावजूद लोग गांधी का नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन इसके विपरीत मुस्लिमों का नेतृत्व मौलाना आजाद के बजाए जिन्ना के हाथ में आ जाता है। इतिहास के ये पृष्ठ हमें सचेत करते हैं। यहां यह बात रेखांकित किए जाने योग्य है कि अल्पसंख्यक अपनी परंपरा एवं विरासत के प्रति बड़े चैतन्य होते हैं। वे चाहते हैं कि कम होने के नाते कहीं उनकी उपेक्षा न हो जाए। यह भयग्रंथि उन्हें एकजुट भी रखती है। अतएव वे भावनात्मक नारेबाजियों से जल्दी प्रभावित होते हैं। सो उनके बीच राजनीति प्रायः इन्हीं आधारों पर होती है। यह अकारण नहीं था कि नमाज न पढ़ने वाले मोहम्मद अली जिन्ना, जो नेहरू से भी ज्यादा अंग्रेज थे, मुस्लिमों के बीच आधार बनाने के लिए कट्टर हो गए।

मुस्लिम राजनीति वास्तव में आज एक खासे द्वंद में हैं, जहां उसके पास नेतृत्व का संकट है। आजादी के बाद 1964 तक पं. नेहरू मुसलमानों के निर्विवादित नेता रहे। सच देखें तो उनके बाद मुसलमान किसी पर भरोसा नहीं कर पाया और जब किया तब ठगा गया। बाबरी मस्जिद काण्ड के बाद मुस्लिम समाज की दिशा काफी बदली है। बड़बोले राजनेताओं को समाज ने हाशिए पर लगा दिया है। मुस्लिम समाज में अब राजनीति के अलावा सामाजिक, आर्थिक, समाज सुधार, शिक्षा जैसे सवाल पर बातचीत शुरू हो गई है। सतह पर दिख रहा मुस्लिम राजनीति का यह टंडापन एक परिपक्वता का अहसास कराता है। मुस्लिम समाज में वैचारिक बदलाव की यह हवा जितनी ते होगी, समाज उतना ही प्रगति करता दिखेगा। एक सांस्कृतिक आवाजाही, सांस्कृतिक सहजीविता ही इस संकट का अंत है। जाहिर है इसके लिए नेतृत्व का पढ़ा, लिखा और समझदार होना जरूरी है। नए जमाने की हवा से ताल मिलाकर यदि देश का मुस्लिम अपने ही बनाए अंधेरो को चीरकर आगे आ रहा है तो भविष्य उसका स्वागत ही करेगा। हैदराबाद में हुयी बातचीत मुसलमान, उर्दू के इर्द-गिर्द जरूर हुयी पर उसने एक बहस शुरू की है जिसमें हिंदुस्तानी मुसलमान की उम्मीदें दिखती हैं और यही उनके बेहतर भविष्य और सार्थक लोकतंत्र की राह बनाएगी।

(लेखक मीडिया विमर्श पत्रिका के कार्यकारी संपादक हैं)